कामायनी

जातीय अस्मिता की तलाश

रोहिणी अग्रवाल

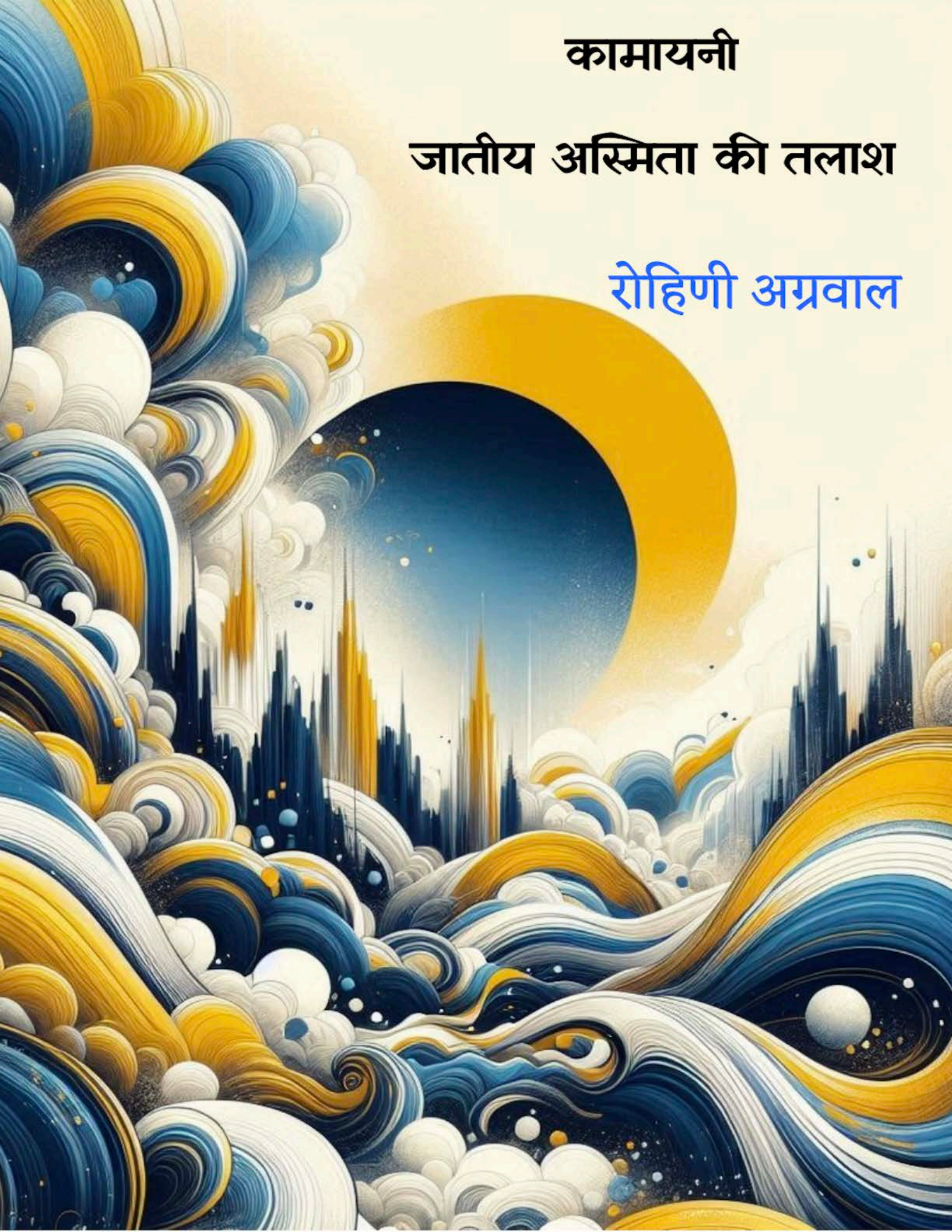

कामायनी

जातीय अस्मिता की तलाश

रोहिणी अग्रवाल

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: सितंबर, 2024

© रोहिणी अग्रवाल

उत्कृष्ट रचना अपने समय का उत्पाद भर नहीं होती, वह पूर्व-परंपरा के रिसते घावों, दरकनों और उपलब्धियों से दो-चार होने के बाद ही समय को लिपिबद्ध करके भविष्य के सृजन का स्वप्न देखती है. रचना की जमीन भले ही कुछ एक घटनाओं, चरित्रों और सुनिश्चित कालखंड को घेरकर अपनी छोटी सी त्रिज्या बनाती प्रतीत हो, दरअसल वह जानी जाती है जमीन पर छाए अछोर आसमान के अपरिमित क्षेत्रफल से, जो हर देश-काल में परिवर्तनकामी आकांक्षाओं और संशयों, द्वंद्व और संकल्प के बीच घनीभूत होते दबाव को एक समग्र मानवीय दृष्टि से देखता चलता है. निजता के खूंटे से बंधा व्यक्ति पूर्वाग्रह की बेड़ियों का श्रृंगार करके मुकम्मल मानवीय दृष्टि अर्जित नहीं कर सकता. मनुष्य बनने के लिए खूंटों से मुक्त होना अनिवार्य है. उत्कृष्ट रचना कृतिकार और कृति दोनों के अंतस में निबद्ध इसी मनुष्य- भास्वर चेतना- को पहचानने की संवेदनशील व्यग्रता है. इसलिए रचना महज लेखक की अंतर्दृष्टि और संवेदनात्मक सरोकारों का परिणाम नहीं होती, संवेदना की गहराई और आयतन को मापने के लिए उत्तरदायी उसके व्यक्तित्व को भी सामने लाती है. जाहिर है ठीक इसी स्थल पर आलोचक का दायित्व दोहरा हो जाता है. कृति में निबद्ध समय-समाज की पड़ताल करते हुए उसे लेखकीय व्यक्तित्व/दृष्टि की निर्मिति की क्रमिक प्रक्रिया को भी पकड़ना है और अपने समय की बहुआयामी एवं परिवर्तित हो गई अपेक्षाओं के अनुरूप अपने से दूर किसी अन्य कालखंड में रचित रचना की प्रासंगिकता एवं गुणवत्ता पर भी

विचार करना है. मैं उन प्रबुद्ध जनों की धारणाओं के विपरीत जाना चाहूंगी जो यह मानते हैं कि किसी भी रचना का मूल्यांकन उसकी समय-सीमाओं के फ्रेम में ही किया जाना चाहिए. यदि साहित्य को पढ़े-गुने जाने की एक शर्त कालाबद्ध दृष्टि (जिसे मैं यथास्थिति कहना अधिक पसंद करूंगी) है तो फिर क्यों नहीं अखबार की श्रेणी में रख हर बदलते कैलेंडर के साथ उसे रद्दी की टोकरी में डाल दिया जाता? दरअसल कालजयी कही जाने वाली रचनाएं समय के साथ अपनी पैठ और प्रचार में इतनी महान या छुईमुई (वोलेटाइल) बना दी जाती हैं कि उनकी प्रासंगिकता पर अन्य कोण से उठी उंगलियां प्रशंसकों की 'धार्मिक' आस्था पर चोट करने लगती हैं. कहना न होगा कि 'कामायनी' पर विचार करते हुए मैं उसे जयशंकर प्रसाद के समय के मास्टर पीस के रूप में न देख कर हमारे समय की चिंताओं में शामिल होने वाली चेतना-मशाल के रूप में देखना अधिक पसंद करूंगी.

चक्रिल गति से घूमता समय उत्थान-पतन की घुमावदार गलियों के चक्कर काटने के बाद अंततः एक कटावदार मोड पर आ रुकता है जहां सांसों पर काबू पाने की लालसा में खड़ा है हताश-क्लांत मनुष्य. इस दिशाहारा मनुष्य के सामने संघर्ष-यात्रा का अगला पड़ाव खोजने के लिए वह आदिम सवालों से भरी उसी पोटली को पलट देता है जिन से जूझ कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह चलता रहा है. ये सवाल हैं - मैं कौन हूं? सृष्टि और प्रकृति, समय और समाज क्या है? मेरा इनसे क्या संबंध है? इस विशाल

भूतल पर मेरे होने का अर्थ क्या है? भूख और अन्य भौतिक परितृप्तियों के बाद मनुष्य की सबसे बड़ी लड़ाई अस्मिता पाने की ही रही है. व्यक्ति के रूप में भी, समाज के रूप में भी. पुरानी परिपाटी और मूल्य, एक बिंदु पर आकर, नष्ट भले न हों, खोखले अवश्य हो जाते हैं. तब समय के क्षरणशील तत्वों को बीन-फटक कर परे फेंकने के साथ ही उन्हें प्रतिस्थापित करने वाले स्वस्थ पोषक तत्वों की तलाश भी जारी हो जाती है. आज का समय उग्र सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का समय है जो लोकतंत्र और सेकुलरिज्म की कोर को दबाते-दबाते अतीत-गौरव के नाम पर खूनी हुंकारे भरने लगा है. भय, हिंसा, आतंक और अविश्वास के माहौल ने मनुष्य को मनुष्यता से क्षरित कर धर्म, वर्ग, जाति, समुदाय, लिंग की हैवानियत में बदल दिया है. यह वह समय है जब सच में घुसकर झूठ प्रखर सत्य का रूप लेने लगा है, और देश की तमाम दौलत कुछेक घरानों के हाथों में केंद्रित होकर अमीरी-गरीबी के बीच अलंघ्य खाइयों को बढ़ा रहा है.

यह स्थिति सिर्फ भारत की नहीं, कमोबेश पूरी दुनिया की है जहां दक्षिणपंथी ताकतों और कॉरपोरेट कैपिटलिज्म ने मनुष्य को उसकी गरिमा से च्युत कर दिया है. लेकिन दुर्भाग्यवश परिवर्तन का आकांक्षी वर्ल्ड इकोनामिक फोरम जिस न्यू वर्ल्ड ऑर्डर (द ग्रेट रिसैट) की परिकल्पना कर समाजवादी व्यवस्था का सपना देखता है, वहां आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस के सहारे मनुष्य की गरिमा ही नहीं, भौतिक अस्तित्व को कुचलने के दुष्चक्र हैं; पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर कार्बन क्रेडिट जैसी रियायतें